॥ॐ॥

॥ॐ श्री परमात्मने नमः ॥

॥श्री गणेशाय नमः॥

श्री भतृहरि
कृत
वैराग्य शतक

विषय-सूची

मंगलाचरण 3

मंगलाचरण

चूडोत्तंसितचन्द्रचारुकलिकाचञ्चच्छिखाभास्वरो
लीलादग्धविलोलकामशलभः श्रेयोदशाग्रे स्फुरन् ।
अन्तःस्फूर्जदपारमोहतिमिरप्राग्भारमुच्चाटयन्:
चेतःसद्मनि योगिनां विजयते ज्ञानप्रदीपो हरः॥१॥

जिनकी जटाओं में चञ्चल और उज्वल चन्द्रकला शोभित है और जिन्होंने कामदेव रूपी पतंगे को लीलापूर्वक ही भस्म कर दिया, ऐसे कल्याण करने वालों में अग्रगण्य तथा भक्तों के अन्तःकरण के मोहरूपी अन्धकार को नष्ट करने वाले तथा ज्ञान का प्रकाश करने वाले भगवान शंकर योगियों के हृदय में निवास करते हैं। ॥१॥

बोद्धार मत्सरग्रस्ताः प्रभवः स्मयदूषिताः ।
अबोधोपहताश्चान्ये जीर्णमङ्गे सुभाषितम् ॥२॥

विद्वान् अपनी विद्या के मात्सर्य से ग्रस्त हैं, ऐश्वर्य शाली पुरुष गर्व से दूषित हैं और अन्य व्यक्ति अज्ञान में डूबे हुए हैं, अतएव ज्ञानियों की श्रेष्ठ उक्तियाँ उनके मन में ही रही आने से समझ में नहीं आतीं ॥२॥

न संसारोत्पन्नं चरितमनुपश्यामि कुशलं
विपाकः पुण्यानां जनयति भयं मे विमृशतः ।
महद्भिः पुण्यौघैश्चिरपरिगृहीताश्च विषया
महान्तो जायन्ते व्यसनमिव दातुं विषयिणाम् ॥३॥

संसार में जो चरित्र दिखाई देते हैं, वे कल्याणकारी नहीं हैं। पुण्य कर्मों का फल जो स्वर्गादि हैं, वे भी मुझे भयरूप प्रतीत होते हैं। महान् पुण्यों के द्वारा चिरकाल से संचित विषय भी अन्त में विषयोजनों के लिए दुःखरूप ही सिद्ध होते हैं ॥३॥

उत्खातं निधिशङ्कया क्षितितलं ध्माता गिरेर्धातवो
निस्तीर्णः सरितां पतिर्नृपतयो यत्नेन संतोषिताः ।
मन्त्राराधनतत्परेण मनसा नीताः श्मशाने निशाः
प्राप्तः काणवराटकोऽपि न मया तृष्णे सकामा भव ।।४।।

हे तृष्णे! अब तो मेरा पीछा छोड़। देख, तेरे जाल में पड़ कर मैंने धन की खोज में पृथिवी खोद डाली, रसायन-सिद्धि की इच्छा से पर्वत की बहुत-सी धातुएं भस्म कर डाली, रत्नों की कामना से नदियों के पति समुद्र को भी पार किया और मन्त्रों की सिद्धि के उद्देश्य से मन लगाकर अनेक रात्रियाँ श्मशान में बिताई तो भी एक कानी कौड़ी हाथ न लग सकी। ॥४॥

भ्रान्तं देशमनेकदुर्गविषमं प्राप्तं न किञ्चित्फलम्
त्यक्त्वा जातिकुलाभिमानमुचितं सेवा कृता निष्फला ।
भुक्तं मानविवर्जितं परगृहेष्वाशङ्कया काकवत्
तृष्णे जृम्भसि पापकर्मपिशुने नाद्यापि सन्तुष्यसि ॥५॥

मैंने अब तक बहुत-से देशों और विषम दुर्गों में भ्रमण किया तो भी कुछ फल न मिला। अपनी जाति और कुल के अभिमान को छोड़कर जो दूसरों की सेवा की वह भी व्यर्थ ही गई, अपने मान की चिन्ता न करते हुए पराये घर में काक के समान भोजन किया, तो भी हे पापकर्म में निरत दुर्मति रूप तृष्णे ! तू सन्तुष्ट नहीं हो सकी। ॥५॥

खलालापाः सोढाः कथमपि तदाराधनपरैः
निगृह्यान्तर्बाष्पं हसितमपि शून्येन मनसा ।
कृतो वित्तस्तम्भप्रतिहतधियामञ्जलिरपि
त्वमाशे मोघाशे किमपरमतो नर्तयसि माम् ॥६॥

दुष्टों की आराधना करते हुए मैंने उनकी कटु उक्तियों को सहन किया अश्रुओं को भीतर ही रोककर मैंने शून्य मन से हँसी का भाव रखा और

मन को मार उनके समक्ष हाथ जोड़ खड़ा रहा तो फिर अब तू मुझे और क्या-क्या नाच नचाने की इच्छा करती है ? ॥६॥

आदित्यस्य गतागतैरहरहः संक्षीयते जीवितं
व्यापारैर्बहुकार्यभारगुरुभिः कालोऽपि न ज्ञायते ।
दृष्ट्वा जन्मजराविपत्तिमरणं त्रासश्च नोत्पद्यते
पीत्वा मोहमयीं प्रमादमदिरामुन्मत्तभूतं जगत् ॥७॥

सूर्य के उदय-अस्त से आयु नित्यप्रति क्षीण हो रही है, जगत्-व्यापार में प्रवृत्त अधिक कार्य भार के कारण जाता हुआ समय प्रतीत नहीं होता तथा जन्म, वृद्धावस्था और मरण का त्रास भी भयभीत नहीं करता। इस प्रकार यह जगत् मोहमयी, प्रमादमदिरा के पान द्वारा उन्मत्त हो रहा है। ॥७॥

दीना दीनमुखैः सदैव शिशुकैराकृष्ट जीर्णाम्बरा
क्रोशद्भिः क्षुधितैर्न रैर्न विधुरा दृश्येत चेद् गेहिनी।
याचाभंगभयेन गद्गदलसल्लुट्यद्विलीनाक्षर
कोदेहीति वदेत्स्वदग्धजठरस्यार्थे मनस्वी जनः ॥८॥

भोजन के लिए रोते हुए दीन मुख वाले शिशुओं द्वारा खेंचे-खसोटे गए वस्त्रों वाली दुखिया गृहिणी न देखी जाती तो ऐसा धीर पुरुष कौन है जो अपनी उदरपूर्ति के लिए याचना के व्यर्थ होने की आशंका से रुधे कण्ठ से 'मुझे कुछ दो' ऐसा कहने के लिए तैयार हो सके। ॥८॥

निवृत्ता भोगेच्छा पुरुषबहुमानोऽपि गलितः
समानाः स्वर्याताः सपदि सुहृदो जीवितसमाः ।
शनैर्यष्ट्युत्थानं घनतिमिररुद्धे च नयने
अहो मूढः कायस्तदपि मरणापायचकितः ॥६॥

भोग की इच्छा निवृत्त होगई, पुरुषत्व का अभिमान विगलित हो चुका, समान आयु वाले लोग स्वर्ग में चले गए, स्वयं भी लकड़ी के सहारे धीरे-

धीरे चलने लगे और दृष्टि क्षीण हो गई, तब भी मरण की बात सुनकर भयभीत होना आश्चर्य की ही बात है। ॥९॥

हिंसाशून्यमयत्नलभ्यमशनं धात्रा मरुत्कल्पितं
व्यालानां पशवस्तृणाङ्कुरभुजस्तुष्टाः स्थलीशायिनः ।
संसारार्णवलङ्घनक्षमधियां वृत्तिः कृता सा नृणां
तामन्वेषयतां प्रयान्ति सततं सर्वे समाप्तिं गुणाः ॥१०॥

विधाता ने हिंसा-रहित एवं स्वयं प्राप्त वायु का भोजन सर्पों के लिए कल्पित किया, पशुओं के लिए तृणों के अंकुरों का भोजन और भूमि पर शयन निश्चित किया। परन्तु संसार-सागर को पार करने में समर्थ पुरुषों की ऐसी वृत्ति निश्चित की, जिसकी खोज में सम्पूर्ण गुणों के समाप्त होने पर भी उसकी प्राप्ति नहीं होती ॥१०॥

न ध्यातं पदमीश्वरस्य विधिवत्संसारविच्छित्तये
स्वर्गद्वारकवाटपाटनपटुर्धर्मोऽपि नोपार्जितः ।
नारी पीनपयोधरोरुयुगलं स्वप्नेऽपि नालिङ्गितं
मातुः केवलमेव यौवनवनच्छेदे कुठारा वयम् ॥११॥

मैंने संसार-बन्धन के क्षेदनार्थ परमेश्वर के चरणों का विधिवत् ध्यान नहीं किया, न स्वर्गद्वार के कपाट खोलने के लिए धर्मरूपी कुंजी को ही प्राप्त किया और न नारी के पीनपयोधरों और सधन जघनों का आलिंगन ही किया, इस प्रकार मैं माता के यौवन रूपी वन के छेदनार्थ कुठार रूप में ही उत्पन्न हुआ हूँ। ॥११॥

भोगा न भुक्ता वयमेव भुक्ताः तपो न तप्तं वयमेव तप्ताः ।
कालो न यातो वयमेव यातास्तृष्णा न जीर्णा वयमेव जीर्णाः ॥१२॥

हमने विषयों को नहीं भोगा, वरन् विषयों ने ही हमें भोग लिया। हमने तपस्या नहीं की, वरन् तपस्या ने ही हमें तप्त कर दिया। हमसे काल

व्यतीत न हुआ वरन् हम ही व्यतीत हो गए। तृष्णा जीर्ण न हुई, वरन हम ही जीर्ण होगए। ॥१२॥

क्षान्तं न क्षमया गृहोचितसुखं त्यक्तं न संतोषतः
सोढा दुःसहशीतवाततपनक्लेशा न तप्तं तपः ।
ध्यातं वित्तमहर्निशं नियमितप्राणैर्न शम्भोः पदं
तत्तत्कर्म कृतं यदेव मुनिभिस्तैस्तैः फलैर्वञ्चिताः ॥१३॥

हमने सहन तो किया, परन्तु क्षमा से, गृहोचित सुखों को त्याग तो दिया, परन्तु असन्तोष से, शीत, उष्ण और वायु के दुःसह कष्ट भी सहे, परन्तु तप का कष्ट सहन नहीं किया और जो ध्यान किया वह भी धन का, शम्भु के चरणों का नहीं। इस प्रकार मैंने मुनियों द्वारा किये जाने वाले कर्म तो किये, परन्तु उनका फल मुनियों के कर्म जैसा नहीं मिला। ॥१३॥

वलिभिमुखक्रान्तं पलितै रङ्कितं शिरः।
गात्राणि शिथिलायन्ते तृष्णैका तरुणायते ॥१४॥

झुरियों से मुख भर गया, सिर के केश श्वेत होगए, शरीर शिथिलता को प्राप्त हो गया, तो भी तृष्णा घटने की अपेक्षा तरुण ही होती जा रही है। ॥१४॥

येनैवाम्वरखण्डेन संबीतो निशि चन्द्रमा।
तेनैव च दिवा भानुरहो दौर्गत्यमेतयोः ॥१५॥

आकाशखण्ड रूपी जिस वस्त्र को ओढ़ कर चन्द्रमा रात्रि में और सूर्य दिन में अपने शरीर को ढकता है, जब इन्हीं प्रकाशमानों की ऐसी दुर्गति है, तब हमारे दीन होने में आश्चर्य की कोई बात नहीं है। ॥१५॥

अवश्यं यातारश्चिरतरमुषित्वापि विषया
वियोगे को भेदस्त्यजति न जनो यत्स्वयममून् ।
व्रजन्तः स्वातन्त्र्यादतुलपरितापाय मनसः

स्वयं त्यक्ता ह्येते शमसुखमनन्तं विदधति ॥१६॥

चिरकाल तक भोगे हुए विषय भी जब किसी दिन अवश्य छोड़ने होते हैं, तब यही उचित है कि उन्हें स्वयं ही त्याग दे। क्योंकि विषयों द्वारा छोड़े जाने पर अधिक सन्ताप होता है। जबकि स्वेच्छा से छोड़ देने पर अत्यन्त सुख की प्राप्ति होती है। ॥१६॥

विवेकव्याकोशे विदधति शमे शाम्यति तृषा
परिष्वंगे तुङ्गे प्रसरतितरां सा परिणतिः।
जजीर्णेश्वर्यग्रसनगहनाक्षेपकृपण स्तृषापात्रं
यस्यां भवति मरुतामप्यधिपतिः ॥१७॥

विवेक की उत्पत्ति से शान्ति का उदय होने पर तृष्णा शान्त हो सकती है, जबकि उसे अपने साथ लगाये रहने से बढ़ती ही जाती है। वृद्धावस्था में होने वाले विषयासक्ति को इन्द्र भी नहीं रोक पाता, वरन् वह स्वयं भी तृष्णा का पात्र हो जाता है। ॥१७॥

भिक्षाशनं तदपि नीरसमेकवारं
शय्या च भूः परिजनो निजदेहमात्रम् ।
वस्त्रं विशीर्णशतखण्डमयी च कन्था
हा हा तथापि विषया न परित्यजन्ति ॥१८॥

भिक्षा का रूखा-सूखा एक बार भोजन, पृथिवी पर शयन अपना शरीर मात्र ही परिवार और सैकड़ों टुकड़ों के जोड़ से बनी हुई गुदड़ी मात्र वस्त्र, हा, हा ! ऐसी अवस्था में पड़ा हुआ मनुष्य भी विषयों का परित्याग नहीं करता। ॥१८॥

स्तनौ मांसग्रन्थी कनककलशावित्युपमितौ
मुखं श्लेष्मागारं तदपि च शशाङ्केन तुलितम् ।
स्रवन्मूत्रक्लीन्नं करिवरशिरस्पर्धि जघनं

मुहुर्निन्द्यं रूपं कविजनविशेषैर्गुरु कृतम् ॥१९॥

माँस की ग्रन्थि रुपी स्तनों को स्वर्ण कलश की, खखार और थूक के पात्र मुख को चन्द्रमा की और बहते हुए मूत्र से भीगी हुई जंघाओं को हाथी की सूंड की उपमा देकर कवियों ने स्त्रियों के निन्दनीय रूप का कैसा बढ़ा-चढ़ा कर बखान किया है। ॥१९॥

अजानन्माहात्म्यं पततु शलभो दीपदहने
स मीनोऽप्यज्ञानाद् बडिशयुतमश्नातु पिशितम्।
विजानन्तोऽप्येते वयमिह विपज्जालजटिलान्न
मुञ्चमः कामानहह ! गहनो मोह महिमा ॥२०॥

अग्नि के माहात्म्य से अनभिज्ञ पतंग दीपक की लौ में स्वयं को भस्म कर डालता और मछली भी फन्दे को न जानकर वंशी में लगे मांस को खाने के लिए लपकती है। इस प्रकार हम अपनी कामनाओं की विपत्ति के जटिल जाल को जंजाल युक्त जानते हुए भी उन्हें नहीं छोड़ना चाहते। अहो, मोह की महिमा कैसी गहन है ? ॥२०॥

फलमलमशनाय स्वादु पानाय तोयं
क्षितिरपि शयनार्थं वाससे वल्कलं च ।
नवधनमधुपानभ्रान्तसर्वेन्द्रियाणां
अविनयमनुमन्तुं नोत्सहे दुर्जनानाम् ॥२१॥

जब हमें आहार के लिए फल, पान के लिए सुस्वादु जल, शयन के लिए भूमि, पहनने के लिए वृक्षों की छाल यथेष्ट है, तब हम धनरूपी मधु के पान से भ्रान्त इन्द्रियों वाले दुर्जनों द्वारा किये जाने वाले तिरस्कार को क्यों सहन करें ? ॥२१॥

विपुलहृदयैरीशैरेतज्जगज्जनितं पुरा
विधृतमपरैर्दत्तं चान्यैर्विजित्य तृणं यथा ।

इह हि भुवनान्यन्ये धीराश्चतुर्दश भुञ्जते
कतिपयपुरस्वाम्ये पुंसां क एष मदज्वरः ॥२२॥

कोई ऐसे विपुल हृदय और धन्य पुरुष हुए, जिन्होंने इस लोक को बनाया, कोई ऐसे दानी हुए, जिन्होंने इस संसार को तुच्छ मान कर तृण के समान दान कर दिया, कोई ऐसे धीर पुरुष हैं जो चौदह भुवनों का पालन करते हैं और कुछ ऐसे भी हैं जिन्हें कतिपय ग्रामों के प्राप्त होने पर ही गर्व रूपी ज्वर चढ़ आता है। ॥२२॥

त्वं राजा वयमप्युपासितगुरुप्रज्ञाभिमानोन्नताः
ख्यातस्त्वं विभवैर्यशांसि कवयो दिक्षु प्रतन्वन्ति नः ।
इत्थं मानधनातिदूरमुभयोरप्यावयोरन्तरं
यद्यस्मासु पराङ्मुखोऽसि वयमप्येकान्ततो निःस्पृहाः ॥२३॥

यदि तुम्हें राजा होने का गर्व है तो हमें भी गुरुसेवा से उपलब्ध ज्ञान का कम अभिमान नहीं है। यदि तुम ऐश्वर्य से प्रसिद्ध हो तो हमारा यश भी कवियों न दशों दिशाओं में फैला रखा है। इस प्रकार हे राजन् ! तुममें-हममें कोई अन्तर न होने पर भी हमसे मुख फेरते हो तो हम भी तुम से निस्पृह ही रहते हैं। ॥२३॥

अभुक्तायां यस्यां क्षणमपि न जातं नृपशतः
भुवस्तस्या लाभे क इव बहुमानः क्षितिभृताम् ।
तदंशस्याप्यंशे तदवयवलेशेऽपि पतयो
विषादे कर्तव्ये विदधति जडाः प्रत्युत मुदम् ॥२४॥

सैकड़ों ही राजागण जिसे अपनी समझ कर संसार से चले गए, परन्तु यह किसी के द्वारा भी भोगी नहीं गई! ऐसी पृथिवी को पाकर गर्व करना क्या उचित है ? इसके अंश के भी अंश को प्राप्त करके अपने को पृथिवीपति मानना आश्चर्य का ही विषय है,क्योंकि जहाँ खेद करना चाहिए, वहाँ मूर्ख पुरुष आनन्द ही समझा करते हैं। ॥२४॥

मृत्पिण्डो जलरेखया वलयितः सर्वोऽप्ययं नन्वणुः
स्वांशीकृत्य तमेव संगरशतै राज्ञां गणा भुञ्जते ।
ते दद्युर्ददतोऽथवा किमपरं क्षुद्रा दरिद्रा भृशं
धिग्धिक्तान्पुरुषाधमान्धनकणान्वाञ्छन्ति तेभ्योऽपि ये ॥२५॥

यह पृथिवी जल की रेखा से घिरा एक छोटा-सा मृत्तिका पिण्ड हैं, जिसके कुछ-कुछ अंशों पर अनेक राजागण युद्ध करके स्वामित्व स्थापित करते हुए राज्य करते हैं। ऐसे क्षुद्र एवं दरिद्र राजाओं को दानी कह कर दान प्राप्त करने की आशा वाला धनाकांक्षी अधम पुरुषों को धिक्कार है। ॥२५॥

न बिटा न नटा न गायका न परद्रोहनिबद्धबुद्धय।
नृपसद्मनिनामकेवयंकुचभारोन्नमितान योषितः ॥२६॥

न हम विट (लम्पट) हैं, न नट हैं, न गायक हैं, न हम में परद्रोह की ही बुद्धि है और न हम कुचभार नम्रा कामिनी ही हैं, फिर तुम्हारी राजसभा से हमारा क्या प्रयोजन है ? ॥२६॥

पुरा विद्वत्तासीदुपशमवतां क्लेशहतये गता
कालेनासौ विषयसुखसिद्धयै विषयिणाम् ।
इदानीं सम्प्रेक्ष्य क्षितितल भुजः शास्त्राविमुखा
नहो कष्टं साऽपि प्रतिदिनमधोऽधः प्रविशति ॥२७॥

पूर्व काल में तो विद्वता क्लेश नष्ट करने के लिए होती थी, फिर कुछ कालोपरान्त विषयी पुरुषों की विषय-सुख सिद्धि की हेतु हो गई और अब तो वह शास्त्र विमुख राजाओं के कारण अधोगति को प्राप्त होती गई। ॥२७॥

स जातः कोऽप्यासीन्मदनरिपुणा मूर्ध्नि धवलं

कपालं यस्योच्चैर्विनिहितमलंकारविधये ।
नृभिः प्राणत्राणप्रवणमतिभिः कैश्चिदधुना
नमद्भिः कः पुंसामयमतुलदर्पज्वरभरः ॥२८॥

पहले कभी ऐसे पुरुष भी हुए, जिनके शुभ्र कपाल को शिवजी ने अपने अलंकार रूप में मस्तक पर धारण किया था, परन्तु अब तो अपनी प्राण-रक्षा मात्र करके ही मनुष्य अत्यन्त अभिमानी हो गए है। ॥२८॥

अर्थानामीशिषे त्वं वयमपि च गिरामीश्महे यावदर्थं
शूरस्त्वं वादिदर्पव्युपशमनविधावक्षयं पाटवं नः ।
सेवन्ते त्वां धनाढ्या मतिमलहतये मामपि श्रोतुकामा
मय्यप्यास्था न ते चेत्त्वयि मम नितरामेव राजन्ननास्था ॥२९॥

हे राजन् ! यदि तुम धनों के ईश्वर हो तो हम भी वाणी के ईश्वर हैं। तुम युद्ध करने में शूर हो तो हम वादियों का दर्पज्वर नष्ट करने में चतुर है। तुम्हें धनाढय पुरुष सेवन करते हैं तो मति का मल दूर करने के लिए शास्त्र सुनने के इच्छुक मनुष्य हमें सेवन करते हैं। ऐसी समता होने पर भी तुम्हारी श्रद्धा हम पर नहीं है तो हमारी आस्था भी तुममें नहीं रही, इसलिए हम जाते हैं। ॥२९॥

माने म्लायिनि खण्डिते च वसुनि व्यर्थे प्रयातेऽर्थिनि
क्षीणे बन्धुजने गते परिजने नष्टे शनैर्यौवने ।
युक्तं केवलमेतदेव सुधियां यज्जह्नुकन्यापयः-
पूतग्रावगिरीन्द्रकन्दरतटीकुञ्जे निवासः क्वचित् ॥३०॥

सम्मान के नष्ट होने, धन का क्षय होने, अतिथियों के विमुख लौटने, बांधवों के नष्ट होने, परिजनों के चले जाने और शनैः शनै यौवन के नष्ट होने पर बुद्धिमानों को उचित है कि वे गंगा के जलकणों से पवित्र हुई हिमालय की किसी गुफा में निवास करें। ॥३०॥

परेषां चेतांसि प्रतिदिवसमाराध्य बहुधा
प्रसादं किं नेतुं विशसि हृदय क्लेशकलितम् ।
प्रसन्ने त्वय्यन्तः स्वयमुदितचिन्तामणिगणो
विविक्तः संकल्पः किमभिलषितं पुष्यति न ते ॥३१॥

हे चित्त ! तू प्रतिदिन पराये चित्त को अनेक प्रकार से प्रसन्न करने के लिए क्लेश रूपी पक में क्यों फँसता है ? जब तू स्वयं में ही प्रसन्न होकर चिन्तामणि के गुणों को ग्रहण करेगा, तब क्या तेरे इच्छित की पूर्ती नहीं होगी। ॥३१॥

भोगे रोगभयं कुले च्युतिभयं वित्ते नृपालाद्भयं
माने दैन्यभयं बले रिपुभयं रूपे जराया भयम् ।
शास्त्रे वादिभयं गुणे खलभयं काये कृतान्ताद्भयं
सर्वं वस्तु भयान्वितं भुवि नृणां वैराग्यमेवाभयम् ॥३२॥

भोगी को रोगभय, कुलीन को च्युति भय, धनिक को राज भय, मानी को दैन्यभय, बली (अथवा सेना) को शत्रुभय, रूप को जराभय, शास्त्र को वादभय, गुण को खलभय और काया को यमभय होता है। इस प्रकार मनुष्यों को लोक में सभी वस्तु भय से व्याप्त हैं, केवल शिवजी के चरण ही निर्भय पद हैं। ॥३२॥

अमीषां प्राणानां तुलितबिसिनीपत्रपयसां
कृते किं नास्माभिर्विगलितविवेकैर्व्यवसितम् ।
यदाढ्यानामग्रे द्रविणमदनिःसंज्ञमनसां
कृतं वीतव्रीडैर्निजगुणकथापातकमपि ॥३३॥

कमलिनी पत्र पर स्थित जल कण के समान तुरन्त नष्ट होने वाले प्राणों के लिए कर्त्तव्य-अकर्तव्य का किंचित् भी विचार न करके हमने क्या नहीं किया? धनमद में मत्त धनाढ्यों के आगे अपनी प्रशंसा स्वयं करने के पाप से भी नहीं चूके। ॥३३॥

सा रम्या नगरी महान्स नृपतिः सामन्तचक्रं च तत्
पार्श्वे तस्य च सा विदग्धपरिषत्ताश्चन्द्रबिम्बाननाः ।
उद्वृत्तः स च राजपुत्रनिवहस्ते बन्दिनस्ताः कथाः
सर्वं यस्य वशादगात्स्मृतिपथं कालाय तस्मै नमः ॥३४॥

वह सुरम्य नगरी, वह महान् नृपति, वह अधीनस्थ राजाओं का चक्र, उसके पाश्र्व में स्थित विद्वज्जन, अत्यन्त सुन्दरी कामिनियाँ, राजपुत्रों का समूह, चतुर बन्दीजन और सभी आदर्श कथाएँ काल के कारण नाम मात्र के लिए रह गई, उस काल को नमस्कार है। ॥३४॥

वयं येभ्यो जाताश्चिरपरिचिता एव खलु ते
समं यैः संवृद्धाः स्मृतिविषयतां तेऽपि गमिताः ।
इदानीमेते स्मः प्रतिदिवसमासन्नपतना
गतास्तुल्यावस्थां सिकतिलनदीतीरतरुभिः ॥३५॥

हमको जन्म देने वाले माता-पिता को गये हुए बहुत काल व्यतीत हो गया, हमारे सहपाठियों का भी नाम शेष रह गया है। और हम भी नदी तट पर बालू में उत्पन्न वृक्ष के समान दिनों दिन मृत्यु के निकट पहुँचते जा रहे हैं। ॥३५॥

यत्रानेकः क्वचिदपि गृहे तत्र तिष्ठत्यथैको
यत्राप्येकस्तदनु बहवस्तत्र नैकोऽपि चान्ते ।
इत्थं नेयौ रजनिदिवसौ लोलयन्द्राविवाक्षौ
कालः कल्यो भुवनफलके क्रीडति प्राणिशारैः ॥३६॥

जिस किसी घर में अनेक थे, वहाँ एक रह गया और इस प्रकार दिवस-रात्रि रूपी दो पासों को फेंकने वाला काल पुरुष काली के साथ प्राण रूपी पासा लेकर संसार रूपी चौसर का खेल खेलता है। ॥३६॥

तपस्यन्तः सन्तः किमधिनिवसामः सुरनदीं
गुणोदारान्दारानुत परिचरामः सविनयम् ।
पिबामः शास्त्रौघानुत विविधकाव्यामृतरसान्
न विद्मः किं कुर्मः कतिपयनिमेषायुषि जने ॥३७॥

हम नहीं जानते कि हमें क्षणभंगुर जीवन में क्या करना चाहिए ? तपस्या में रत रहते हुए गङ्गातट पर निवास अथवा गुणों के कारण उदार हुई अपनी पत्नी को सविनय परिचय? या शास्त्रों का श्रवण करें अथवा काव्यरूपी सुधारस का पान?॥३७॥

गङ्गातीरे हिमगिरिशिलाबद्धपद्मासनस्य
ब्रह्मध्यानाभ्यसनविधिना योगनिद्रां गतस्य ।
किं तैर्भाव्यं मम सुदिवसैर्यत्र ते निर्विशङ्काः
कण्डूयन्ते जरठहरिणाः स्वाङ्गमङ्गे मदीये ॥३८॥

क्या वे मेरे सुदिन होंगे जब मैं गंगा के तीर पर हिमगिरि शिला पर पद्मासन लगाकर ब्रह्मध्यान करता हुआ योगनिद्रा में मग्न होजाऊँगा और तब वृद्ध हरिण भी निःशंक होकर अपने शरीर की खुजलाहट दूर करने के लिए उसे मेरे शरीर से रगड़ा करेंगे। ॥३८॥

स्फुरत्स्फारज्योत्स्नाधवलिततले क्वापि पुलिने
सुखासीनाः शान्तध्वनिषु रजनीषु द्युसरितः ।
भवाभोगोद्विग्नाः शिव शिव शिवेत्युच्चवचसः
कदा यास्यामोऽन्तर्गतबहुलबाष्पाकुलदशाम् ॥३९॥

ज्योत्स्नाभरी सुनसान रात्रि में गंगा के रेतीले तट पर सुख से बैठा हुआ मैं भव के भोगों से उद्विग्न रहता है। शिव शिव का जप करता हुआ अपने नेत्रों को अश्वपुर्ण करने में कब सफल होऊंगा ? ॥३९॥

महादेवो देवः सरिदपि च सैषा सुरसरिद्

गुहा एवागारं वसनमपि ता एव हरितः ।
सुहृद्वा कालोऽय ब्रतमिदमदैन्यव्रतमिदं
कियद्वा वक्ष्यामो वटविटप एवास्तु दयिता ॥४०॥

शिव ही मेरे इष्टदेव हैं, नदियों में गंगा ही नदी है, पर्वत की गुहा ही मेरा घर, दिशाएँ वस्त्र, काल ही मित्र और अदैन्य मेरा व्रत है अधिक क्या कहूँ वटवृक्ष ही मेरे लिए दपिता स्वरूप है ॥४०॥

आशानामनदीमनोरथजला तृष्णातरङ्गाकुला
रागग्राहवती वितर्कविहगा धर्यद्रमध्वसिनी ।
मोहावर्तसुदुस्तराऽतिगहना प्रोत्तङ्गचिन्तातटी
तस्याःपारगता विशुद्धमनसो नन्दन्तियोगीश्वराः ॥४१॥

आशा नाम की नदी में मनोरथ रूपी जल और तृष्णा रूपी तरंग है, राग ही उसमें ग्राह हैं और वितर्क अर्थात् अनुकूल प्रतिकूल पदार्थों के निर्णय की विचारघारा रूपी पक्षी वृक्ष पर बैठे हैं और वह धारा धैय रूपी वृक्ष को गिराती हैं। मोह रूपी गहन भंवर और चिन्ता नट हैं । शुद्ध मन वाले योगीश्वर हो ऐसी नदी से पार होने में समर्थ हैं। ॥४१॥

आसंसारं त्रिभुवनमिदं चिन्वतां तात तादृङ्नै
वास्माकं नयनपदवीं श्रोत्रवर्त्मागतो वा ।
योऽयं धत्ते विषयकरिणीगाढरूढाभिमान-
क्षीबस्यान्तःकरणकरिणः संयमालानलीलां ॥४२॥

हे तात ! संसार की प्रवृत्ति के आरम्भ काल से मैंने त्रिलोकी में खोज करली, परन्तु ऐसा कोई भी देखने-सुनने में नहीं आया जो विषय रूपी हथिनी के अति गूढ़ अभिमान से उन्मत्त हुए अन्तःकरण रूपी हाथी को संयम रूपी बन्धन में बाँध सके। ॥४२॥

विद्यानाधिगता कलंकरहिता वित्तं च नोपार्जितं

शुश्रूषापि समाहितेन मनसा पित्रोर्न संपादिता ।
आलोलायतलोचना युवतयः स्वप्नेऽपिनालिंगिताः
कालोऽयं परपिण्डलोलुपतया काकैरिव प्रेर्यते ॥४२॥

हमने कलंक-रहित विद्या नहीं पढ़ी, धन भी नहीं कमाया, माता पिता की सेवा भी नहीं की और चंचलनयना युवति का आलिंगन स्वप्न में भी नहीं किया। हमने तो केवल पराये अन्न के लोभ में ही अपना जीवन कौए के समान व्यतीत कर दिया । ॥४३॥

वितीर्णे सर्वस्वे तरुणकरुणापूर्णहृदयाः
स्मरन्तः संसारे विगुणापरिणामां विधिगतिम् ।
वय पुण्यारण्ये परिणतशरच्चन्द्रकिरणा
स्त्रियामा नेष्यामो हरचरणचिन्तैकशरणाः॥४४॥

अपना सर्वस्व वितरण कर, करुणापूर्ण हृदय से संसार की विषम परिणाम वाली दैवगति का स्मरण करते हुए पवित्र वन में भगवान शिव की चरण शरण लेते हुए शरद् की चाँदनी रात्रि को कब बितायेंगे ? ॥४४॥

वयमिह परितुष्टा वल्कलैस्त्वं दुकूलै:
सम इव परितोषो निविशेषो विशेषः।
स तु भवति दरिद्रो यस्य तृष्णा विशाला
मनसि च परितुष्टे कोऽर्थवान् को दरिद्रः ॥४५॥

राजन् ! हम वृक्ष की छाल के वल्कल वस्त्र से ही सन्तुष्ट हैं और तुम श्रेष्ठ वस्त्रों में सन्तुष्ट रहते हो। इस प्रकार हमारे तुम्हारे सन्तोष में अन्तर न होने से विशेष भेद भी नहीं है। परन्तु जिसकी तृष्णा विशाल है वही पुरुष दरिद्र होता है, क्योंकि मन असन्तुष्ट हो तो कौन धनवान और कौन दरिद्र है ? ॥४५॥

यदैतत्स्वच्छन्दं विहरणमकार्पण्यमशनं
सहार्यैः संवासः श्रुतमुपशमैकवतफलम्।

मनो मन्दस्पन्दं बहिरपि चिरस्यापि विमृश
नजाने कस्यैषा परिणतिरुदारस्य तपसः ॥४६॥

स्वच्छन्द विहार, दीनता-रहित भोजन, सत्पुरुषों का संग, मन को शान्ति देने वाले एवं उपशम व्रत रूपी फल वाले शास्त्रों का श्रवण, सांसारिक भावों में मन की प्रवृत्ति की मन्दता आदि का चिरकाल तक विचार-विमर्श करने पर भी समझ में नहीं आया कि यह किस तपस्या का फल है। ॥४६॥

पाणिः पात्रं पवित्र भ्रमणपरिगतं भैक्षमक्षय्यमन्नं
विस्तीर्णवस्त्रमाशादशकमचपलंतल्पमस्वल्पमुर्वी ।
येषांनिःसङ्गताङ्गीकरणपरिणतस्वात्मसंतोषिणस्ते
धन्याः न्यस्तदैन्यव्यतिकरनिकराकर्म निर्मूलयन्ति ॥४७॥

हाथ ही पवित्र पात्र, भ्रमण करने पर प्राप्त भिक्षा ही अक्षय अन्न, विस्तीर्ण दिशाएँ वस्त्र, वृहद् पृथिवी शय्या, संसर्गों से शून्य अन्तःकरण की वृत्ति और अपने आत्मा में ही सन्तुष्टता तथा दीनता के भावों का त्याग, ऐसे जिन पुरुषों ने अपने कर्मों को समूल नष्ट कर लिया, वे धन्य हैं। ॥४७॥

दुराराध्याश्चामी तुरगचलचिताः क्षितिभुजो
वयं तु स्थूलेच्छा महति च पदे बद्धमनसः।
जरा देहं मृत्युर्हरति दयितं जीवितमिदं
सखे नान्यच्छ्रेयो जगति विदुषोऽन्यत्र तपसः ॥४८॥

अश्व की गति के समान चलायमान चित्त वाले राजाओं की आराधना कठिन है। परन्तु हमारी इच्छाओं की स्थूलता के कारण उच्चपद प्राप्ति की लालसा रही आती है । वृद्धावस्था देह का और मृत्यु जीवन का हरण करती है। अत: हे सखे ! जगत् में विवेकी पुरुष के लिए तप के अतिरिक्त कोई अन्य श्रेयस्कर मार्ग नहीं है। ॥४८॥

भोगा मेघवितानमध्यविलसत्सौदामिनीचञ्चला
आयुर्वायुविघट्टिता भ्रपटलीलानाम्बुवभंगुरम् ।
लीला यौवनलालसास्तनुभृतामित्याकलय्य द्रुतं
योगे धैर्यसमाधिसिद्धिसुलभे बुद्धि विदध्वं बुधाः ॥४९॥

संसार के भोग चंचला विद्युत् के समान अस्थिर हैं, आयु भी वायु के द्वारा विघटित किये गए जलवर्षक मेघों के समान क्षणभंगुर है, यौवन की लालसा भी स्थिर नहीं है। अतः हे बुधजन ! धैर्य से प्राप्त एकाग्रता द्वारा सुलभ समाधि सिद्धि का प्रयत्न करो। ॥४९॥

पुण्ये ग्रामे वने वा महति सितपटच्छन्नपार्लिकपार्लि
ह्यादाय न्यायगर्भ द्विजहुतहतभुग्धूमधूम्रोपकण्ठम् ।
द्वारं द्वारं प्रविष्टो वरमुदरदरीपूरणाय क्षुधार्तो
मानी प्राणैः स धन्यो न पुनरनुदिनं तुल्यकुल्येषु दीनः ॥५०॥

क्षुधाकुल होकर जो अपनी उदर-कन्दरा को भरने के लिए श्वेत वस्त्रों से ढके ठीकरे को लेकर किसी पवित्र ग्राम या वन में जाकर सतत किये जाने वाले यज्ञों के धुएं से काले पड़े हुए किवाड़ों वाले द्वार-द्वार पर भिक्षा-याचना करें परन्तु समान कुल वालों के द्वार पर दीन होकर भिक्षा न माँगे, वह धन्य है ॥५०॥

चाण्डाल:किमयं द्विजातिरथवाशूद्रोऽथकिं तापसः
किवातत्वविवेकपेशलमतिर्योगीश्वराकोऽपिकिम्।
इत्युत्पन्नविकल्पजल्पमुखरै सम्भाष्यमाणा जनैर्नक्रुद्धाः
पथिनैव तुष्टमनसो यान्ति स्वयं योगिनः ॥५१॥

क्या यह चाण्डाल है या ब्राह्मण है? शूद्र है अथवा तपस्वी? अथवा तत्वज्ञान में कुशल कोई योगीश्वर है? इस भाँति अनेक प्रकार के संशय से युक्त तर्क-वितर्क करते हुए मनुष्यों द्वारा छेड़ छाड़ करने पर भी योगी न तो क़द्ध होता है और न हर्षित ही, वरन् सदैव सावधान चित्त रहता है। ॥५१॥

विरमत बुधा योषिसङ्गात्सुखात्क्षणबन्धुरात्
कुरुत करुणामैत्रीप्रज्ञावधूजनसङ्गमम् ।
न खलु नरके हाराक्रान्तं घनस्तनमण्डलं
शरणमथ वा श्रोणीबिम्बं रणन्मणिमेखलम् ॥५२॥

हे बुधजन ! क्षणभंगुर सुख वाले स्त्री-संग से चित्त को हटा कर, करुणा से मैत्री और प्रज्ञा रूपी वधुओं से समागम करो । क्योंकि अन्त में नरक को प्राप्त होने पर हारों से अलंकृत सघन वक्षस्थल या शब्दायमान मणि-मेखला से समन्वित कटि सहायक नहीं हो सकती ॥५२॥

मातर्लक्ष्मिभजस्वकच्चिदपर मत्कांक्षिणामस्मभू-
भोंगेषु स्पृहयालवो नहि वयं का निःस्पृहाणीमसि।
सद्यः स्यूतपलाशपत्रपुटिकापात्रे पवित्रीकृतै
मिक्षासक्तुभिरेव सम्प्रति वयं वृत्ति समीहामहे ॥५३॥

हे लक्ष्मी माता ! अब तू मेरी आशा छोड़ कर अन्य किसी का भजन कर, क्योंकि विषयों के भोग में मेरी किंचित् भी रुचि नहीं रही। अब तो मैं निस्पृही रह कर पलाश के हरित पत्रों के दोने में रखे भिक्षा से प्राप्त सत्तू के द्वारा ही जीवन यापन करूंगा। ॥५३॥

यूयं वयं वयं यूयमित्यासीन्मतिरावयोः ।
कि जातमधुना मित्र यूयं यूय वयं वयम् ॥५४॥

हे मित्र ! पहले हम समझते थे कि तुम हो वह हम हैं और हम हैं वह तुम हो अर्थात् हम-तुम दोनों एक ही हैं । परन्तु अब क्या हुआ कि तुम तुम ही हो गए और हम हम ही रह गए। ॥५४॥

रम्यं हर्म्यतलं न कि वसयते श्रव्यं न गेयादिकं
किं वा प्राण समासमागमसुखं नैवाधिक प्रीयते ।

किं भ्रान्तपतत्पतङ्गःपवनव्यालोलदीपांकुर-
च्छायाचञ्चलमाकलय्यसकलं सन्तो वनान्तं गताः॥५५॥

क्या सन्त जनों के रहने के लिए रम्य राजभवन न थे ? क्या श्रव्य संगीत और गीतादि न थे ? क्या प्राणप्रिया नारियों का समागम सुख उन्हें प्रिय न था ? परन्तु वे इस जगत् को वायु से हिलती हुई दीपक की लौ की छाया के समान चंचल समझ कर निर्जन वन में चले गए। ॥५५॥

किंकन्दाःकन्दरेभ्यःप्रलयमुपगतानिर्झरावागिरिभ्यः
प्रध्वस्तावातरुभ्यःसरसफलभृतोवल्कसिन्येश्वशाखाः
वीक्ष्यन्ते यन्मुखानि प्रसभमागतप्रश्रयाणां खलानां
दुःखोपात्ताल्पवित्तस्मयपवनवशानतित भ्रू लतानि ॥५६॥

क्या कन्दराओं से कन्दमूलादि और पर्वतीय झरने नष्ट हो गए या सरस फल और वल्कल से युक्त वृक्ष की शाखाएँ क्षीण होगई ? जिनके कारण याचकों को अविनीत दुष्टों के मुख देखने पड़ते हैं। ॥५६॥

गङ्गातरङ्गःकणशीकरशीतलानि
विद्याधराध्युषितचारुशिलातलानि ।
स्थानानिकिं हिमवत:प्रलयं गतानि
यत्सावमानपरपिण्डरता मनुष्याः ॥५७॥

गंगाजी की तरंगों से ठंडे हुए जलकणों से शीतल और बैठे हुए विद्याधरों वाले शिलातल युक्त हिमालय के स्थान क्या लुप्त हो गए हैं, जो अपमान सहन करते हुए मनुष्य दूसरों के दिये अन्न में रुचि रखा करते हैं। ॥५७॥

यदा मेरु:श्रीमान्निपतति युगान्ताग्निहिहतः
समुद्राः शुष्यन्ति प्रचुरमकरग्राहनिलयाः।
धरा गच्छत्यन्तं धरणिधरपादैरपि धृता
शरीरे का वार्ता करिकलभकर्णाग्रचपले ॥५८॥

जब श्रीसम्पन्न सुमेरु पर्वत प्रलय काल की अग्नि से दग्ध होकर गिर जाता है, बड़े-बड़े मकर और ग्राहों का आश्रय स्थान समुद्र शुष्क हो जाता है तथा पर्वतों से धारित धरती लीन हो जाती है, तब हाथी के कर्णाग्र के समान चपल इस शरीर का ही क्या कहना ? ॥५८॥

एकाकी निःस्पृहः शान्तः पाणिपात्रो दिगम्बरः
कदा शम्भो भविष्यामि कर्म निर्मूलनक्षमः ॥५९॥

हे शम्भो ! मैं एकाकी, निस्पृह, शान्त, करपात्री, दिगम्बर और कर्मफल को नि मूल करने में समर्थ कब होऊंगा? ॥५९॥

प्राप्ताः श्रियः सकलकामदुघास्ततः किं
दत्तं पदं शिरसि विद्विषतां ततः किम् ।
सम्मानिताः प्रणयिनो विभवैस्ततः किं
कल्पस्थितास्तनुभृतां तनवस्ततः किम् ॥६०॥

सभी कामनाओं के देने वाली लक्ष्मी के प्राप्त होने से क्या होता है ? शत्रुओं को पददलित करने या प्रेमियों को धनादि से सम्मानित होने अथवा कल्प पर्यन्त जीवित रहने से भी क्या लाभ है ? ॥६०॥

जीर्णा कन्था ततः किं, सित ममलपटं पट्टसूत्रं ततः किं
मेकाभार्याततःकिंबहुयकरिभिःकाटिसंख्यास्ततः किं।
भक्तं भुक्तं ततःकिं कदशनमथवा वासरान्तेततः किं
व्यक्तज्योतिर्नवान्तर्मयितभवभयं वैभवं वा ततः किं ॥६१॥

कन्था के जीर्ण होने से क्या ? श्वेत रेशमी वस्त्र के धारण से, स्त्री के एक होने से, करोड़ों हाथी-घोड़ों वाले ऐश्वर्य से या मध्याह्न में श्रेष्ठ भोजन अथवा सायंकाल में निकृष्ट भोजन प्राप्त होने से भी क्या ? अर्थात् यदि भवभय

नाशक ब्रह्मतेज धारण न किया तो उन सबके उत्कृष्ट होने से ही क्या लाभ है ? ॥६१॥

भक्तिर्भवे मरणजन्मभयं हृदिस्थं
स्नेहो न बन्धुषु न मन्मथजा विकाराः।
संसर्गदोषरहिता वि जना वनान्ता
वैराग्यमस्ति किमतः परमर्थनीयम् ॥६२॥

शिव की भक्ति, हृदय में मरण और जन्म के भय, बन्धुओं के स्नेह, काम-विकार तथा संसर्ग दोष से रहित निर्जन वन में निवास हो तो इससे अधिक परम अर्थ और वैराग्य ही कौन-सा है ? ॥६२॥

तस्मादनन्तमजरं परमं विकासि ।
तद् ब्रह्म चिन्तय किमेभिरसद्विकल्पैः।
यस्यानुङ्गिण इमे भुवनाधिपत्य
भोगादयः कृपणलोकमता भवन्ति ॥६३॥

इसलिए अनन्त, अजर, परम ज्योति स्वरूप ब्रह्म का चिन्तन करो, उससे भिन्न चिन्तन से क्या लाभ है ? क्योंकि कृपणों के अधीन रहने वाले भुवनों का आधिपत्य, भोग आदि सब उस ब्रह्म के ही ओश्रित हैं ॥६३॥

पातालमाविशसि यासिनभोविलंध्य
दिग्ममण्डलं भ्रमसि मान सचापलेन ।
भ्रान्त्यापिजातुविमलं कथमात्मनानं
तद् ब्रह्म न स्मरसि निवृतिमेषि येन ॥६४॥

अरे मन ! तू अपनी चंचलता के कारण कभी पाताल में जाता है तो कभी आकाश का उल्लंघन करता है, और कभी सब दिशाओं में घूमता है। परन्तु कभी भूल कर भी उस विमल आत्मा रूप ब्रह्म का चिन्तन नहीं करता जिससे सब दुःखों की निवृत्ति हो सके। ॥६४॥

रात्रिः सैव पुनःस एव दिवसो मत्वाऽबुधाजन्तवो
धावन्त्युद्यमिनस्तथै व निभृतप्रारब्धतत्क्रियाः।
व्यापारैः पुनरुक्तभुत विषयैरेवंविधेनाऽमुना
संसारेण कदथिताः कथमहो मोहान्न लज्जामहे ॥६५॥

वही रात्रि और वही दिवस होते हैं, यह सभी प्राणी जानते हैं, फिर भी प्रारब्ध कर्मों को पूर्ण करने के लिए उन्हीं व्यापारों को पुनः करते हैं। इस प्रकार के संसार से हम निन्दा के पात्र होकर भी अज्ञानवश लज्जित नहीं होते ॥६५॥

मही रम्या शय्या विपुलमुपधानं भुजलता
वितानं चाकाशं व्यजनमनुकूलोऽयमनिलः।
स्फुरदीपश्चन्द्रो विरतिवनितासङ्गमुदितः
सुख शान्तः शेते मुनिरतनुभूतिनृप इव ॥६६॥

जिसकी रम्य शैय्या भूमि, विपुल तकिया भुजा, आकाश वितान, अनुकूल वायु पंखा, चन्द्रमा ही प्रकाशमान दीपक और विरक्ति रूपी स्त्री का संग है, वही मुनि ऐश्वर्यवान् राजा के समान सुख-शान्ति पूर्वक शयन करता है ॥६६॥

त्रैलोक्याधिपतित्वमेव विरसं यस्मिन्महाशासने
तल्लाब्ध्वाशनवस्त्रमानघटने भोगे रति मा कृथाः।
भोगः कोऽगि स एक एव परमो नित्योदितोजृम्भते
यत्स्वादाद्विरसाभवन्तिविषयास्त्रैलोक्यराज्यादयः ॥६७॥

रे मन ! जिस ब्रह्म के महाशासन के समक्ष त्रैलोक्य का आधिपत्य भी रसहीन प्रतीत होता है, उसकी प्राप्ति में ही लग, भोजन, वसन, मान रूपी भोग से प्रीति न लगा। उसके समान अन्य भोग कौन-सा है जो निन्य प्रकाशित है तथा जिसके स्वाद के आगे त्रैलोक्य के राज्यादि भी रसहीन सिद्ध होते हैं। ॥६७॥

किं वेदैःस्मृतिभिः पुराणपठनैछ शास्त्रैर्महाविस्तरैः

स्वर्गग्रामकुटीनिवास फलदैः कर्मक्रियाविभ्रमैः।
मुक्त्वैकं भवबन्धदुःखरचना विध्वंसकालानल
स्वात्मानन्दपदप्रवेशकलनं शेषा वणिग्वृत्तय ॥६८॥

वेद, स्मृति, पुराण और शास्त्रों के अत्यन्त विस्तार में जाने का क्या प्रयोजन ? स्वांग रूपी कुटी में निवास रूपी फल के देने वाले यज्ञादि कर्मो से क्या लाभ ? भव-बन्धन रूपी दुःख के निवारणार्थ उत्पन्न कालानल के समान आत्मानन्द रूप पद प्रवेश के अतिरिक्त अन्य सभी वृत्तियाँ व्यापार रूप हैं। ॥६८॥

आयुःकल्लोललोलकतिपयदिवसस्थायिनीयौवन श्री रथः
संकल्पकल्पाघनसमयतडिद्विभ्रमा भोगपूराः।।
कण्ठाश्लोपोद्गढं तदपिचनचिरंयत्प्रियाभि:प्रणीतं
ब्रह्मण्यायुक्तचिता भवत भवभयाम्भोधिपारंतरीतुम् ॥६९॥

आयु जल की तरंगों के समान चंचल, यौवन की शोभा कुछ दिनों तक सीमित, धन संकल्प-कल्पना के समान अस्थिर, वासना वर्षाऋतु के विद्युत-विलास के समान चपल और प्रियाओं का कण्ठ मिलन युक्त आलिंगन रूपी सुख भी अस्थायी है । अतः भवभय रूपी सागर से पार जाने के लिए ब्रह्म में आसक्त होना श्रेयस्कर है। ॥६९॥

ब्रह्माण्डं मण्डलीमात्र न लोभाय मनस्विनः ।
शफरीस्फूरितेनाब्धेः क्षव्धता न तु जायते ॥७०॥

बिम्ब फल के समान यह ब्रह्माण्ड मनस्वियों का मन लुभाने में उतना ही असमर्थ है, जितनी समुद्र को क्षुब्ध करने में मछलियों की उछल-कूद व्यर्थ रहती है। ॥७०॥

यदासी दज्ञानं स्मरतिमिरसंस्कार जनितं
तदा दृष्टं नारीमयमिदमशेष जगदपि ।

इदानीमस्माकपटुतरविवेकाञ्जनजुषां
समीभुता दृष्टिस्त्रिभुवनभपि ब्रह्म तनुते ॥७१॥

यौवनावस्था में कामदेव रूपी तिमिर (नेत्र रोग) के कारण विवेक न रहने से सम्पूर्ण जगत् स्त्रीमय जान पड़ता था, परन्तु अब उस तिमिर रोग को दूर करने में सशक्त विवेक रूपी अंजन से हमारी दृष्टि त्रिभुवन को ही ब्रह्मरूप में देखती है। ॥७१॥

रम्याश्चन्दमरीचयस्तृणवती रम्यावनान्तस्थली
तम्यं साधुसमागमोद्भवसुखं काव्येषु रम्याःकथाः ।
कोपोपाहित वाष्पबिन्दुतरलं रम्यं प्रियाया मुख
सर्वं रम्य मनित्यतामुपगते चित्त न किञ्चत्पुनः ॥७२॥

चन्द्रमा की रम्य किरणें, हरित तृणों से सुरम्य हुई वनस्थली, सत्संग से उत्पन्न रम्य सुख एव कव्यों की रमणीक कथाएँऔर प्रणयकोष से उत्पन्न अश्रुओं से रम्य हुआ प्रिया का मुख, यह सब रम्य होते हुए भी संसार की अनित्यता का ज्ञान होने पर वित्त पुनः उन में नहीं रमता। ॥७२॥

भिक्षाशी जनमध्यसङ्गरहितः स्वायत्तचेष्टः सदा
दानादानविरक्तमार्ग निरतः कश्चित्तपस्वी स्थितः
रथ्याकीर्ण विशीर्णजीर्णवसनः सम्प्राप्तकन्याधरो
निर्यानो निरह कृतिः शमसुखभोगेकवद्धस्पृहः ॥७३॥

भिक्षा से जीवन यात्रा चलाने वाले, लोगों के संग से विमुख, इच्छानुसार चेष्टा में सदा स्थित, दान-अदान से विरक्त, मार्ग में फेंके गये जीर्ण-शीर्ण वस्त्रों को पहनने वाले, कन्था का ही आसन बनाकर बैठने वाले, मान और अहंकार से रहित एवं शान्तिसुख के भोग में चित्त लगाने वाले विरले ही होते हैं। ॥७३॥

मातर्मेदिनि तात मारूत सखतेजःसुबन्धोजल

भ्रातव्योम निबद्धएषभवतामन्त्यःप्रणामाञ्जलिः।
युष्मत्सङ्गवशोपजातसुकृतोद्रक स्फुरन्निर्मल
ज्ञानापास्तसमस्त मोह महिमालीवेपरब्रह्मणि ।।७४।।

हे मेदिनी माता ! हे वायु पिता, हे तेज मित्र, हे जल सुबन्धो ! हे आकाश भ्रातृ ! मैं कर जोड़ कर प्रणाम करता हूँ। आपके संग से उत्पन्न पुण्य के आधिक्य से प्रकाशित ज्ञान द्वारा मोह महिमा का नाश करता पर ब्रह्म में लीन हो रहा हूँ। ॥७४॥

यावत्स्वस्थमिदं कलेवरगृह यावच्चदूरे जरा
यावच्चेन्द्रियशक्तिरप्रतिहता यावत्क्षयो नायुषः।
आत्मश्रेयसि तावदेवविदुषाकार्यः प्रयत्नोमहान्
प्रोद्दीप्ते भवने च कूपखनन प्रत्युद्यमः कीदृशः ॥७५॥

जब तक काया स्वस्थ है और वृद्धावस्था दूर है, इन्द्रियाँ अपने-अपने कार्यों के करने में सशक्त हैं तथा जब तक आयु नष्ट नहीं होती, तब तक विद्वान् पुरुष को अपने श्रेय के लिए प्रयत्न शील रहे। घर जलने पर कुँआ खोदने से क्या लाभ ? ॥७५॥

नाभ्यस्ताभुविवादिवृन्ददमनीविद्याविनीतोचिता
खड्गाग्रे : करिकुम्भपीठदलनैर्नाकं न नीतं यशः।
कान्ताकोमलपल्लवाधरसः पीतो न चन्द्रोदये
तारुण्यं गतमेव निष्फल महो शून्यालयदीपवत् ॥७६॥

मैंने न तो विरोधियों के मुख को दमन करने वाली विद्या का अध्ययन किया, न तलवार की नोंक से हाथी की पीठ को विदीर्ण करके अपना यश ही स्वर्ग तक फैलाया और न चन्द्रोदय काल में कान्ता के कोमल अधरों का ही पान किया । इस प्रकार मेरा तो तारुण्य भी शून्य गृह में जलते हुए दीप के समान निष्फल ही गया। ॥७६॥

ज्ञानं सतां मानमदादिनाशन केषाञ्चिदेतन्मदमानकारणम्
स्थानंविविक्तंयमिनांविमुक्तये कामातुराणामपि कामकारणम् ॥७७॥

ज्ञान से सज्जनों का मान मदादि नष्ट होते और दुर्जन के मान-मदादि की वृद्धि होती है। जैसे एकान्त स्थान योगी की मुक्ति में साधन होता है, वैसे ही वह कामातुरों के काम की वृद्धि में भी कारण होता है। ॥७७॥

जीर्णा एव मनोरथाः स्वहृदये यातं जरा यौवनं
हन्ताङ्ग षु गुणाश्चवन्ध्यफलतांयातागुणज्ञ बिना।
कि युक्तं सहसाभ्युपैतिबलवान्कालः कृतान्तोऽक्षमी
हाज्ञातं मदनांतकांघ्रियुगलमुक्त्वास्तिनान्यागतिः ॥७८॥

मनोरथ हृदय में ही जीर्ण हो गए, यौवन जरावस्था के रूप में बदल गया, गुणज्ञों के बिना अगों के गुण भी बन्ध्या के समान व्यर्थ हो गए और अब बलवान काल के रूप में क्षमा न करने वाला कृतान्त चला आ रहा है, इसलिए अब तो मदनांतक शिव के चरणों के अतिरिक्त कोई अन्य गति नहीं है। ॥७८॥

स्नात्वागाङ्गःपयोभिः शुचिकुसुमफलैरर्चयित्वाविभोत्वां
ध्येये ध्यानं नियोज्य क्षितिधरकुहरग्रावपर्यङ्मूले।
आत्मारामःफलाशीगुरुवचनरतस्त्वत्प्रसादात्स्मारे
दुःखान्मोक्ष्येकदाहुँतव चरणरतो ध्यान मागैकनिष्ठः ॥७९॥

हे कामदेव के शत्रु! गंगा में स्नान करके पवित्र पुष्प-फल से आपका पूजन कर गिरि गुहा में बैठा हुआ मैं ध्यान-योग्य आप में स्वयं को लीन करके केवल फलाहार से जीवन-यापन करता हूँ। हे विभो! मैं गुरु के बताये ध्यान-मार्ग का अनुसरण करता आपके चरण-रत रह कर दुःखों से कब मुक्त हो सकूगा? ॥७९॥

शय्या शैलशिला गृहं गिरिगुहा वस्त्र तरूणां त्वचः

सारङ्गाः सुहृदो ननु क्षितिरुहां वृत्तिः फलः कोमलैः।
येषां नैर्झरमम्बुपानमुचितं रत्यै च विद्याङ्गना
मन्यन्तेपरमेश्वराः शिरसि यैर्बद्धो न सेवाञ्जलिः ॥८०॥

जिन्होंने शैल शिला को शय्या और गिरि गुफा को घर बना लिया, जो वृक्ष की छाल के वस्त्र धारण करते और कोमल फलों से क्षुधापूर्ति करते हैं। झरनों का जल जिनका प्यास निवृत्ति का साधन है तथा जिनका मन विद्यारूपी स्त्री में रमा है और जिन्होंने परायी सेवा के लिए कभी अपना करबद्ध नहीं किया, मैं उनको परमेश्वर ही मानता हूँ। ॥८०॥

उद्यानेषु विचित्रभोजनविधिस्तीव्रा ततीव्र तपः
कौपीनावरणं सुवस्त्रमभितो भिक्षाटन मण्डनम् ।
आसन्न मरणं च मगलसमं यस्या समुत्पद्यते
तां काशी परिहृत्य हन्त विबुधैरन्यत्र कि स्थोयते ॥८१॥

जिसमें उद्यानों में विविध भाँति के व्यंजन बना कर भोजन करना ही तीव्र तितीव्र तपस्या, कौपीन धारण करना श्रेष्ठ वस्त्र, भिक्षाटन ही अलंकार तथा मरण पर्यन्त रहना मंगल के समान है, उस काशी को छोड़ कर विद्वान् अन्यत्र क्यों रहते हैं? ॥८१॥

नायं ते समयो रहस्यमधुना निद्राति नाथों यदि
स्थित्वा द्रक्ष्यति कुप्यति प्रभुरिति द्वारेषु यषां वचः ।
चेतस्तानपहाय याहि भवनं देवस्य विश्वेशितु
निदर्वारिक निर्दयोक्त्यपुरुष निःसीमशर्मप्रदम् ॥८२॥

जिनके द्वार-रक्षक भिक्षा माँगने वालों से कहते हैं कि स्वामी इस समय एकान्त स्थान में निद्रामग्न हुए सो रहे हैं, यह समय मिलने का है भी नहीं, इसलिए जाग कर यहाँ आने पर तुम्हें बैठे देखकर क्रोधित हो जाँयगे । परन्तु रे मन ! ऐसे मदोन्मत स्वामियों के लिए अपने जीवन को निष्फल न

करके देवताओं के भी ईश्वर की शरण लो। वहाँ न तो कोई रोकता है, न कठोर वचन कहता है, वरन् वह पद तो असीम सुख देता है। ॥८२॥

प्रियसख विपदण्डव्रातप्रतापपरम्परा
परिचयचले चिन्ताचक्रे निधाय विधिः खलः।
मृदमिव बलापिण्डीकृत्य प्रगल्भकुलालवद्
भ्रमयति मनो नो जानीमः किमत्र विधास्यति ॥८३॥

हे प्रिय सखे ! यह दृष्ट विधाता चतुर कुम्हार के समान विपत्ति रूपी दण्ड-समूहों के प्रभाव की परम्परा से अत्यन्त चपल चिन्तारूपी चक्र पर मेरे मन को मृत्तिका-पिण्ड के समान घुमाता रहता है। हम नहीं जानते कि अब वह क्या करने वाला है ॥८४॥

महेश्वरे ता जगतामधीश्वरे जनार्दने वा जगदन्तरात्मनि।
तयोर्न भेदप्रतिपत्तिरस्ति मे तथापि भक्तिस्तरुणेन्दुशेखरे ॥८४॥

यद्यपि जगदीश्वर शिव और जगदात्मा जनार्दन में कोई भेद नहीं है, तो भी जिनके भाल पर तरुण चन्द्रमा विराजता है, उन्हीं में मेरी भक्ति है। ॥८४॥

रे कंदर्प करं कदर्थयसि किं कोदण्डटङ्कारवै
रे रे कोकिल कोमलैः कलरवैः किं त्वं वृथा जल्पसि।
मुग्धे स्निग्धविदग्धक्षेपमधुरेलोलै कटालैरलं
चेतश्चुम्बितचन्द्रचूडचरणध्यानामृते वर्तते ॥८५॥

रे कन्दर्प ! तू धनुष की टंकार कर के अपने हाथ को क्यों व्यर्थ कष्ट दे रहा है ? रे कोकिल ! क्यों व्यर्थ ही अपने कोमल कलरव के रूप में बड़बड़ाता है ? हे मुग्धे ! अपने स्निग्ध, विदग्ध एवं चंचल कटाक्षों को मुझ पर न फेक, क्योंकि अब मेरा चित्त भगवान् चन्द्रचूड के चरणध्यान रूपी अमृत में विद्यमान है। ॥८५॥

कौपीनं शतखण्ड जर्जरतरं कन्था पुनस्तादृशां
नैश्चिन्त्यं सुखसाध्यभेक्ष्य मश नं निद्राश्मशाने वने।
मित्रा मित्रसमानतातिविमला चिन्ताऽथ शून्यालये
ध्वस्ताशेषमदप्रमाद मुदितोयोगी सुख तिष्ठति ॥८६॥

जिनकी कौपीन अत्यन्त जर्जर होकर टूक-टूक हो गई, कन्था की भी ऐसी ही दशा है यथा भोजनार्थ सुखपूर्वक भिक्षान्न प्राप्त होने के कारण निश्चिन्तता भी है और जो श्मशान में या वन में निद्रा लेते हैं। जो मित्र-अमित्र को समान भाव से देखते, एकान्त स्थान में समाधि लगाते हैं और मद मोहादि सभी दोषों से मुक्त हो चुके हैं, ऐसे योगी सुख से रहते हैं। ॥८६॥

भोगाभगुरवृत्तयो बहुविधास्तैरेव चायं भव-
स्तत्कस्येहकृतं परिभ्रमत रे लोकाः कृत चेष्ठिते:।
आशापाशशतोपशान्तिविशदं चेतः समाधीयतां
कामोच्छेत्तृहरे स्वधामनि यदि श्रद्धेयमस्मद्वचः ॥८७॥

अरे मनुष्यों! इस संसार में अनेक प्रकार के क्षणभंगुर सुखों को देने वाले जो भोग हैं, उन्हें जन्म-मरण के कारण जान कर भी तुम यहाँ किस कारण घूमते हो? ऐसे क्षणिक भोग के लिए प्रयत्न व्यर्थ है। सैकड़ों प्रकार के आशा-पाशों को तोड़ने और स्वच्छ चित्त होकर कामोच्छेदक शिव में चित्त को लगाओ ॥८७॥

धन्यानां गिरिकन्दरे निवसतांज्योतिः परं ध्यायता-
मानन्दाश्रु जलंपिबन्ति शकुनानिःशङ्कडे शयाः ।
अस्माकं तु मनोरथोपरचितप्रासादवापीतट-
क्रीडाकाननकेलिकौतुकजुषामायुः परं क्षीयते ॥८८॥

वे धन्य हैं जो गिरि गुफाओं में रह कर परम ज्योति का ध्यान करते हैं और जिनके अंक में बैठे हुए परीक्षण उन्ही के आनंदजनित अश्रुओं का पान

करते हैं। परन्तु हमारी आयु तो केवल मनोरथ के भवन मे बनी बावड़ी के तट पर स्थित क्रीड़ोद्यान मे लीला करते ही क्षीण होती जा रही है ॥८८॥

आक्रान्तं मरणेन जन्म जरसा विद्युच्चलं यौवनं
संतोषो केनलिप्सया शमसुखं प्रौढाङ्गनाविभ्रमं:।
लोकैर्मत्सरिभिर्गुणा वनभुवो व्यालैनृपा दुर्जनै-
रस्थैर्येण विभुतयोऽयुपता ग्रस्तं न किं केनवा ॥८९॥

जन्म को मृत्यु ने, विद्यतु के समान चपल युवावस्था को वृद्धावस्था ने, सन्तोष को धन की आकांक्षा ने, सुख-शान्ति को सुन्दरियों के विलासों ने, गुणों को दुष्ट पुरुषों ने, वन को सर्पों ने, राजा को दुर्जनों ने तथा भोग-सामग्री को अस्थिरता ने आक्रान्त किया हुआ है। इस प्रकार इस जगत् में किसने किस को आक्रान्त नहीं कर रखा है। ॥८९॥

आधिध्याधिशतैजेनस्य विविधैरारोग्यमुन्मूल्यते
लक्ष्मीर्यत्र पतन्ति तत्र विवृतद्वारा इव व्यापदः ।
जातं जातमवश्यमाशु विवशं मृत्युःकरोत्यात्मसा-
तत्किंनाम निरंकुशेन विधिनायन्निमितंसुस्थितम् ॥९०॥

सैकड़ों प्रकार की मानसिक और शारीरिक व्याधियों ने आरोग्य का उन्मूलन कर दिया है। जहाँ द्रव्य की प्रचुरता रहती है, वहाँ विपत्ति द्वार को तोड़ कर जाती है। जो उत्पन्न होता है, उसे मृत्यु अपने वश में अवश्य ही कर लेती है, तब ऐसी कौन सी वस्तु है, जो विधाता ने स्थिर रहने वाली बनाई हो। ॥९०॥

आयुर्वर्षशतं नृणां परिमितं रात्रौ तदर्धं गतं
तस्यार्द्धस्य परस्य चार्द्धमपरं बालत्व वृद्धत्वयोः ।
शेषं व्याधिवियोगदुःखसहितं सेवादिभिर्तीयते
जीवेवारितरगचञ्चलतरे सौख्यं कुतःप्राणिनाम् ॥९१॥

मनुष्यों की पूर्णायु सौ वर्ष की है, उसमें से आधी तो रात्रि में सोकर ही व्यतीत हो गई, चौथाई बालकपन और वृद्धत्व में चली गई और शेष चौथाई व्याधि, वियोग-दुख एव धनवानों की सेवा आदि में व्यतीत हुई, फिर अब जल की तरगों के समान अत्यन्त चंचल इस जीवन में प्राणियों को सुख की प्राप्ति कहाँ हो सकती है? ॥९१॥

ब्रह्मज्ञानविवेकिनोऽमलधियः कुर्वन्त्यहोदुष्करं
यन्मुं चत्युपभोग कांचनभनान्येकान्तती निस्पृहाः।
न प्राप्तानिपुरानसम्प्रति न च प्राप्तौढप्रत्ययो
वांछामात्रपरिग्रहाण्यंपिपरंत्यक्तुं न शक्तावयम् ॥९२॥

ब्रह्मज्ञान के विवेक में निर्मल बुद्धि वाले पुरुष अत्यन्त दुष्कर कायों को करते हैं । वे उपभोग, भूषण, वस्त्र, ताम्बूल, शय्या, धन आदि सम्पूर्ण भोग सामग्री का त्याग कर देते तथा निस्पृह रहते हैं। परन्तु हमको तो यह कुछ भी न पहले मिला, न अब और न आगे मिलने का ही विश्वास है और जो इच्छा मात्र से प्राप्त हैं, उनको त्यागने में भी हम तो समर्थ नहीं होते ॥९२॥

फलमलमशनाय स्वादुपानाय तोयं
क्षितिरपि शयनार्थं वाससे वल्कलञ्च।
नवधन मधुपानभ्रान्तसर्वेन्द्रियाणा
भविनयमनुमन्तुं नोत्सहे दुर्जनानाम् ॥९३॥

जब भोजन के लिए मीठे फल, पीने के लिए सुस्वादु जल, शयन के लिए पृथिवी और पहनने के लिए वल्कल वस्त्र उपलब्ध हैं, तब हम धनमद में उन्मत्त, भ्रान्त इन्द्रियों वाले दुर्जनों के अवनय युक्त व्यवहार को क्यों सहन करें ? ॥९३॥

कृच्छ्रेणामेध्यमध्ये नियमिततनुभि: स्थीयते गर्भवासे
कान्ताविश्लेषदुःखव्यतिकरविषमे यौवने चोपभोगः।

नारीणामप्यवज्ञाविलसितनियतं वृद्धभावोऽप्यसाधुः
संसारेरेमनुष्यावदतयदिसुखंस्वल्पमप्यस्तिकिञ्चित् ॥९४॥

गर्भवास में अपने देह को संकुचित रखते हुए अपवित्र मल मूत्रादि के मध्य रहने को विवश होना पड़ता है, युवावस्था में प्रिया के वियोग रूपी दुःख की प्राप्ति होती है और न वृद्धावस्था में तिरस्कृत हुआ मनुष्य सिर झुकाकर चिन्ता में पड़ा रहता है। ऐसा होने से अरे लोगो ! यह बताओ कि क्या इस संसार में कहीं किचित् भी सुख है। ॥९४॥

अकिञ्चनस्य दान्तस्य शान्तस्य समचेतसः ।
सदा सन्तुष्टमनसः सर्वा. सुखमया दिशः ॥९५॥

अकिंचन, दान्त, शान्त तथा शत्रु-मित्र के प्रति समान विचार वाले सदा सन्तुष्ट पुरुष के लिए यह सभी दिशाएँ आनन्ददायक होती हैं ॥९५॥

चला लक्ष्मीश्चलाः प्राणाश्चलं जीवितयौवनम्।
चलाचले च संसारे धर्म एकोहि निश्चलः ॥९६॥

लक्ष्मी चंचला है, प्राण चंचल हैं तथा जीवन और यौवन यह दोनों भी चंचल हैं। इस प्रकार चल और अचल संसार में केवल एक धर्म ही निश्चल रहता है। ॥९६॥

भिक्षा कामदुधा धेनुः कन्था शीतनिर्वारिणी।
अचलातु शिवे भक्तिविभवैः किम्प्रयोजनम् ॥९७॥

जब भिक्षा ही कामधेनु, कन्था ही शीत का निवारण करने वाली और शिवजी से ही अचल भक्ति हो तो फिर वैभव का ही क्या प्रयोजन है। ॥९७॥

कदा संसार जालान्तर्बद्धं त्रिगुणरज्जुभिः ।
आत्मानं मोचयिष्यामि शिवभक्तिशलाकया ॥९८॥

संसार जाल के भीतर त्रिगुणात्मिका रस्सी से बंधी हुई आत्मा को शिव भक्ति रूप शलाका के द्वारा छुड़ाने में कब समर्थ होऊंगा? ॥९८॥

चला विभूतिः क्षणभंगि यौवनं कृतान्तदन्तान्तरर्वात जीवितम् ।
तथाप्यवज्ञा परलोकसाधने नृणामहो विस्मयकारि चेष्टितम् ॥९९॥

ऐश्वर्य चंचल और यौवन क्षणभंगुर है, मनुष्य का जीवन काल के दाँतों के मध्य पड़ा है, तो भी मनुष्य परलोक की प्राप्ति के साधन की अवज्ञा करता जाता है। अहो ! मनुष्यों की यह चेष्टा केसी विस्मयकारिणी है ? ॥९९॥

पृथिवी दह्यते यत्र मेरुश्चापि विशोर्यते ।
शुष्यत्यम्भोनिधिजलं शरीरे तत्र का कथा ॥१००॥

जब पृथिवी जलकर भस्म हो जाती है, सुमेरु भी खण्ड-खण्ड हो जाता है और समुद्र भी शुष्क हो जाता है, तब शरीर का तो कहना ही क्या है ? ॥१००॥

ॐ वैराग्य शतक समाप्त ॐ

संकलनकर्ता:

श्री मनीष त्यागी

संस्थापक एवं अध्यक्ष

श्री हिंदू धर्म वैदिक एजुकेशन फाउंडेशन

www.shdvef.com

।।ॐ नमो भगवते वासुदेवाय:।।